

आधुनिक शिक्षा का सांस्कृतिक संदर्भ

कमलानन्द विभूति

आधुनिक शिक्षा ने संपूर्ण विश्व में एक नई चेतना उत्पन्न की है। इसने संपूर्ण विश्व को क्रमशः अंधकार युग से निकालकर प्रकाश की किरणें दिखलाई। ऐसा नहीं है कि एक दिन अचानक ही आधुनिक शिक्षा प्रकट हुई जिसके फलस्वरूप समस्त मानव-जाति आधुनिक हो गई। सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा दोनों एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। आधुनिक शिक्षा ने मनुष्य को आधुनिक भाव-बोध प्रदान किया, उन्हें अधिक-से-अधिक तार्किक बनाया तथा वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। इस तार्किक बुद्धि ने सामाजिक परिवेश में आमूल-चूल परिवर्तन किया। सब कुछ एक नये सिरे से सोचा, समझा और विचारा जाने लगा। यद्यपि अलग-अलग देशों में आधुनिक शिक्षा के स्वरूप अलग-अलग रहे हैं और उनका समय भी अलग-अलग रहा है तथापि मूल रूप से आधुनिक शिक्षा का एक सामान्य अंतरराष्ट्रीय स्वरूप रहा है।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि मनुष्य जाति को कंप्यूटर और क्लोन युग तक लाने

में आधुनिक शिक्षा की महती भूमिका है। अदम्य संघर्ष द्वारा प्राप्त प्रगति और विकास में आधुनिक शिक्षा ने कदम-से-कदम मिलाकर मानव संसार का साथ दिया है। आज अगर लोगों में अंधविश्वास की भावना काफी कम हुई है या सारा विश्व एक गांव के रूप में तब्दील हुआ है तो इसका मुख्य श्रेय आधुनिक शिक्षा को ही है। लेकिन इन अनगिनत उपलब्धियों के बावजूद आधुनिक शिक्षा की अपनी सीमाएं भी रही हैं। ये सीमाएं समय के अंतराल के साथ अधिक स्पष्ट और पारदर्शी हुई हैं 'वर्ल्ड ऐजुकेशन क्राइसिस' (कूम्बस-1968), 'स्कूल इज डेड' (राइमर-1971), पेडागॉगी आफ द ऑप्रेस्ड' (फ़ेरे-1972) तथा 'डी-स्कूलिंग सोसाइटी' (इवान एलिच' 1973) ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं जिनमें आधुनिक शिक्षा की गंभीर आलोचना की गई है। इन पुस्तकों में सामाजिक व्यवस्था की बुनियादों पर ही संदेह प्रकट नहीं किया गया है बल्कि कई विशिष्ट समाजों में शिक्षा के साथ-साथ समस्त मानव सभ्यता में आए संकट की परीक्षा की गई है।

भारत में आधुनिक शिक्षा के साथ विडंबना यह हुई कि यहां आधुनिक शिक्षा और गुलामी की बेड़ियां एक साथ आईं। राजनीतिक गुलामी ने हमें सांस्कृतिक गुलाम भी बना दिया। वैसे भारत में शैक्षिक गुलामी का इतिहास बहुत पुराना है। एक सीमित वर्ग का ही शिक्षा पर एकाधिकार और विशाल जनसमूह को शिक्षा के अधिकार से वंचित करना ही शैक्षिक गुलामी है।

यद्यपि भारत में अंग्रेज सिद्धांततः अवसर की समानता के समर्थक थे लेकिन व्यक्तियों और स्वयंसेवी संगठनों ने ही शिक्षा से वंचित कर दिए गए विशाल

जनसमूह को शिक्षित करने के व्यावहारिक कदम उठाए। इन समाज सुधारकों में सबसे प्रमुख नाम ज्योतिबा फूले का था जिन्होंने सन् 1850 में निचली जातियों के लिए पहला विद्यालय खोला। लेकिन यह विद्यालय सवर्णों के विरोध के कारण छह महीने के अंदर ही बंद हो गया। फिर भी फूले ने दोबारा खोला, इसकी गतिविधियों का प्रसार किया और नए विद्यालय भी खोले। आगे चलकर 20वीं सदी में महात्मा गांधी और भीमराव अंबेडकर ने जो निम्न जातियों के ध्येय के समर्थक रूप में सुप्रसिद्ध थे, बड़े पैमाने पर इन जातियों की शिक्षा के मुद्दे को उठाया।

फूले और उनके उत्तराधिकारियों के प्रयास निश्चित ही प्रशंसनीय थे फिर भी औपनिवेशिक काल में अनुसूचित जातियों के सामने शैक्षिक असमानता की जो समस्या मौजूद थी, उससे लड़ने के लिए ये पर्याप्त नहीं थे। टाटा समाज विज्ञान संस्थान के शिक्षा विभाग के प्रोफेसर जैकब ऐकरा ने इस तथ्य की पुष्टि में लिखा है कि "1921-22 में शिक्षा के विभिन्न चरणों में कुल नामांकन में अनुसूचित जातियों का भाग 6.1 प्रतिशत था। इन जातियों के छात्रों का एक बहुत बड़ा भाग प्राथमिक विद्यालयों में नामांकित था। इससे ऊपर के हर चरण में उनका नामांकन दो प्रतिशत से भी कम था। इस तरह 1947 के आजादी के समय भारत को जो शिक्षा-व्यवस्था मिली उसमें इन जातियों की भागीदारी बहुत ही कम थी।" (परिप्रेक्ष्य-अगस्त-1996, वर्ष-3, अंक-दो, राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन संस्थान (नीपा) पृष्ठ-37)

भारतीय संदर्भ में आधुनिक शिक्षा औरतों को उसी अनुपात में नसीब नहीं हो पाई, जिस अनुपात में

पुरुषों को प्राप्त हुई। प्राचीन काल में तो शूद्रों के साथ-साथ औरतों पर भी शिक्षा की पाबंदी लगी हुई थी। औपनिवेशिक काल के गौरांग प्रभुओं को भारतीय औरतों को शिक्षित करने पर ध्यान ही क्यों जाता? आज की तारीख में भी औरतों की शिक्षा-दर काफी निराशाजनक है। केवल सरकारी नीतियों के द्वारा ही नारियों की शिक्षा में अपेक्षित विकास नहीं हो सकता है। इसके लिए हम सभी को इस वैचारिक कँचुल से निकलना होगा कि औरतों का मुख्य गुण सफल गृहिणी होना ही है। ज्यादा शिक्षित होने से वो स्वतंत्र होंगी और स्वतंत्र होने पर, तुलसीदास के शब्दों में 'जिमि स्वतंत्र होई बिगड़ि नारी।' महिलाओं की शैक्षिक स्थिति के पीछे इस तरह के विचारों का महत्वपूर्ण हाथ है। वरना जहां पुरुषों के लिए साक्षरता की दर 1951 के 27.16 से 1991 तक 64.20 प्रतिशत तक बढ़ गई है वहीं महिलाओं के लिए यह दर 8.86 (1951) से बढ़कर सिर्फ 38.19 (1991) हुई है। इतना ही नहीं आज दस से अधिक बड़े-बड़े राज्य ऐसे हैं जहां महिला साक्षरता दर राष्ट्रीय महिला साक्षरता दर से सिर्फ कम ही नहीं, बल्कि इन राज्यों के कुछ इलाकों में यह दर तीन प्रतिशत से भी कम है।

शिक्षा शास्त्री मूनीस रजा ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम' में आधुनिक शिक्षा के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का बारीक विश्लेषण किया है। विश्लेषण की मुख्य स्थापना यह है कि प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित थे कि जो लोग काम (श्रम) करते हैं उन्हें सोचना नहीं चाहिए और जो लोग सोचते हैं, उन्हें काम नहीं करना चाहिए। चिंतन श्रम को सत्त्वहीन

बनाता है और श्रम चिंतन को प्रदूषित करता है। ब्राह्मण को हल नहीं खूना चाहिए और शूद्र को वेद नहीं खूना चाहिए। ध्यान-मनन ही ज्ञान का एकमात्र श्रोता था और ज्ञान हिमालय की किसी कंदरा के एकांत में अथवा निर्जन जंगल के किसी वटवृक्ष के नीचे ही प्राप्त किया जा सकता था। यही निर्वाण का, सच्चे ज्ञान की उपलब्धि का मार्ग था। लेकिन अगर कोई हल से खेत जोतता है या हथौड़े से कच्चे लोहे को नया रूप देता है तो उसकी चिंतन क्षमता नष्ट हो जाएगी। इस सिद्धांत का प्रचार वे संपत्तिशाली वर्ग करते थे जो उत्पादन के साधनों पर अपना एकाधिकार और नियंत्रण कायम रखना चाहते थे। जब तक वे इन दो बुनियादी क्षेत्रों पर एकाधिकार कायम रखने की स्थिति में थे तब तक दूसरों से काम कराते रहने में वे सफल थे और उनके श्रम से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्यों को हड़प लिया करते थे। जब तक वे सत्ता के इन दोनों श्रोतों तथा माध्यमों पर कब्जा किए हुए थे तब तक बिना काम किए काम का फल चखा करते थे। न सिर्फ भारत में बल्कि समूची दुनिया में प्राचीन और मध्यकालीन दौर में विकसित हुए शिक्षा सिद्धांत का यही सामाजिक आधार था। उदाहरण के लिए प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत के अनुसार दार्शनिक को ही राजतंत्र का स्वामी होना चाहिए।

ज्ञान से कर्म को अलग करने की यह परंपरा ही मेहनतकशों को शिक्षा से वंचित करके ज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत करने की और अशिक्षितों का सत्ता में आना वर्जित कर उन्हें सत्ता के क्षेत्र से बहिष्कृत करने की प्रक्रिया का आधार रही है। इस तरह देखा जाए तो शिक्षा इतिहास में विषमता कायम करने का सबसे

समर्थ साधन रही है।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव में पाश्चिम के विकसित देशों ने इस विकृति को अंशतः सुधारा पर गुणात्मक रूप से प्रौद्योगिकी के बदल जाने पर यह संभव न रहा कि कुशल कारीगर प्रशिक्षण के क्षेत्र को पार कर शिक्षा के क्षेत्र में दाखिल हुए बगैर उत्पादन में भाग ले सके। लुहार के लिए धातु विज्ञान की जानकारी जरूरी हो गई, जैसे चर्मकारों के लिए रसायनिक पदार्थों की जानकारी जरूरी हो गई। नई परिस्थिति में प्रशिक्षण और शिक्षा के बीच अभी तक बनी हुई अलंघ्य दीवार तोड़नी पड़ी।

यूरोपीय महाद्वीप के शुद्ध परंपरागत शिक्षा वाले विश्वविद्यालय उस नए संकर शिक्षा परिसर को देख लाल-पीले होते रहे, जहां कर्म और ज्ञान मिलकर एक दूसरे को एक नया आयाम दे रहे थे। यूरोप के विश्वविद्यालयों को नए दौर की नई जरूरतों के अनुकूल ढालना पड़ा।

तीसरी दुनिया की त्रासदी असल में यह है कि यहां औद्योगिक क्रांति न होने दी गई। इन देशों के सामाजिक ढांचे में कर्म और ज्ञान के बीच की दूरी अब भी बनी हुई है। औपनिवेशिक शासन की जरूरतों ने इनका आर्थिक विकास रोक दिया, कृषि के क्षेत्र में प्रौद्योगिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया, आत्मनिर्भर औद्योगिक क्षेत्र विकसित न होने दिया, और इस तरह इसने श्रमशक्ति को प्राथमिक क्षेत्र से गौण क्षेत्र में स्थानांतरित होने की दशा में गंभीर बाधा डाली और अधिक-से-अधिक अल्पविकास का ही विकास होने दिया। हस्त-उद्योग पर आधारित गौण क्षेत्र का विघटन होने से प्रौद्योगिकी के लिहाज से ठहराव

के शिकार प्राथमिक क्षेत्र की गतिविधियों पर भारी दबाव पड़ा और औपनिवेशिक प्रशासन की जरूरतों अभावग्रस्त तीसरे क्षेत्र से पूरी की जाने लगीं जो श्रम से अलग था तथा वह श्रम को नीची निगाह से देखता था। इस तरह आज के विकसित देशों में जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने कर्म और शिक्षा के बीच की दूरी घटाई थी, वे तीसरी दुनिया के देशों में पैदा होने ही नहीं दी गईं। (शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम-मूनिस रज़ा, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ-201, 202, 203)

वास्तव में अगर शिक्षा ठीक-ठाक हो, सम्यक हो तो चीजों के साथ, कामों के साथ जो पद और प्रतिष्ठा जुड़ी है, वह विलीन हो जानी चाहिए। एक आदमी जूते सीता है, एक आदमी रोटी बनाता है, एक आदमी मकान बनाता है, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। ये सारे लोग जिंदगी को मिल-जुलकर बना रहे हैं। जिंदगी में सब जरूरी है। और कोई किसी से कम नहीं है और किसी का ओहदा किसी से नीचा नहीं है। सारे लोग मिलकर एक सहयोगी जिंदगी को पैदा कर रहे हैं। जिंदगी एक सहयोग है, एक 'को-आपरेशन' है। इसमें कोई ऊपर नहीं है, कोई नीचे नहीं है।

जिस दिन हम कामों की महत्ता को, समग्र जीवन के प्रति उनके सहयोग और दान के भाव को देखकर स्वीकार कर लेंगे, जिस दिन हमारी शिक्षा कामों से पदों को, प्रतिष्ठाओं को नहीं जोड़ेगी, एक संगीतज्ञ को वही सम्मान मिलेगा जो एक मेहनती किसान को, उस दिन हमारी आधुनिक शिक्षा सफल मानी जाएगी।

आधुनिक शिक्षा ने स्मृति-संग्रह के बरक्स प्रश्नोन्मुखी शिक्षा को बढ़ावा देने की चेष्टा भर की है क्योंकि

स्मृति बिल्कुल यांत्रिक प्रक्रिया है। उससे बुद्धि का कोई सरोकर नहीं है। लेकिन अब तक की हमारी सारी शिक्षा स्मृति को ही आरोपित करने में व्यय होती रही है। जितने पीछे हम लौटेंगे उतनी स्मृति की शिक्षा गहरी थी। स्मरण करा देना ही शिक्षक का काम था। रटा देना, पक्का मजबूत मन में बिठा देना, सांस्कारित कर देना, कन्विस कर देना पुरानी शिक्षा का काम था। शिक्षा ने बुद्धिमत्ता पैदा नहीं की, उसने स्मृति पैदा की है, जो पुनरुक्त कर सकती है।

पुरानी भाषाओं पर अगर हम एक दृष्टि डालें तो हमारी समझ में आएगा संस्कृत, अरबी, ग्रीक या लैटिन इस भांति बनाई गई थी कि स्मरण की जा सके। इसलिए कदाचित् पुरानी भाषाएं गद्य में नहीं पद्य में लिखी हुई हैं। संस्कृत में गणित, भूगोल, ज्योतिष और वैद्यक तक की किताबें काव्य में लिखी गई हैं, क्योंकि उनको याद करने का सवाल था।

आधुनिक शिक्षा की लगभग सारी परीक्षाएं स्मृति की हैं, बुद्धिमत्ता की नहीं। हम परीक्षाओं में सिर्फ इस बात की जानकारी कर लेना चाहते हैं कि कौन व्यक्ति कितने अच्छे ढंग से दोहरा सकता है। लेकिन सिर्फ दोहराने वाला आदमी जिंदगी में खो जाएगा क्योंकि जिंदगी रोज नये सवाल उठाती है। बंधी हुई पाठ्यपुस्तक में जो लिखा है उसे याद कर परीक्षा दे देना एक अलग बात है। लेकिन जिंदगी कोई बंधी हुई परीक्षा नहीं है। जिंदगी की किताब के पीछे कोई उत्तर नहीं लिखे होते जिनको पूरा किया जा सके।

इस संदर्भ में विवादास्पद दार्शनिक ओशो का सुझाव है, "अब तक का शिक्षक जोर देता है बंधा हुआ उत्तर दो, वही सही है। भविष्य के शिक्षक को जोर

देना पड़ेगा, बंधा हुआ उत्तर कृपया मत दो, नया उत्तर खोजो। नये उत्तर का ज्यादा सम्मान होगा, चाहे नया उत्तर गलत ही क्यों न हो। पुराने उत्तर का सम्मान नहीं होना चाहिए चाहे पुराने उत्तर बिल्कुल ठीक ही क्यों न हो। क्योंकि बिल्कुल ठीक उत्तर भी सिर्फ दोहराया जाता है जो प्रतिभा को विकसित नहीं करता है। असल में भूल करने का भय हमें छोड़ देना चाहिए। भूल वह करेगा ही जो नए रास्ते पर चलेगा। सिर्फ वही आदमी भूल नहीं करता जो बंधी हुई लकीरों पर घूमता है। नये की खोज में भूल अनिवार्य है। (शिक्षा में क्रांति-ओशो-टेबल पब्लिशिंग हाउस, प्रा.लि. 50, कोरेगांव पार्क, पुणे, द्वितीय संस्करण-1996, पृष्ठ-392)

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में 'गुरु-शिष्य परंपरा' का स्थान महत्वपूर्ण था। इस परंपरा में गुरु सर्वज्ञानी होता था और शिष्य सिर्फ ज्ञान ग्रहण करता था। गुरु के प्रति भक्ति-भाव का प्रधान्य था। अनुशासन की कड़ी व्यवस्था थी। आधुनिक शिक्षा-पद्धति ने गुरु-शिष्य के मध्य समता का भाव विकसित करने का सुझाव दिया है। जहां अध्ययन-अध्यापन परस्पर सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर निर्भर होगी। अर्थात् इस पद्धति में इस बात को तरजीह दी गई कि गुरु सर्वज्ञानी नहीं होता है और विद्यार्थी निरा मूर्ख नहीं होता है। छात्र-छात्राओं के अपने भी अनुभव और जानकारी की विशिष्ट दुनिया होती है। दंड-विधान पर आधुनिक शिक्षा-पद्धति ने कठोर आपत्ति व्यक्त की तथा अनुशासन में लचीलेपन का समर्थन किया।

बंधे-बंधाए अनुशासन से चैतन्य का लोप हो जाता है उसके भीतर का विवेक और विचार क्रमशः कुंद

पड़ने लगता है। यह सोचने की बात है कि विवेक सदा ही 'हां' नहीं कह सकता है, उसे 'नहीं' कहना भी आना चाहिए। 'हां' में भी तभी मूल्य और अर्थ है जब वह 'नहीं' कहना भी जानता हो। लेकिन अनुशासन 'नहीं' कहना नहीं सिखाता है। वह तो सदा 'हां' की अपेक्षा करता है। अगर प्रारंभ से ही अनुशासन की जगह विवेक सिखाया गया होता, अंध-आस्था की जगह आलोचनात्मक दृष्टि सिखाई गई होती, आज्ञाकारिता की जगह विचार सिखाया गया होता तो कदाचित् दुनिया बिल्कुल ही दूसरी हो सकती थी।

आज हमारे यहां शिक्षा में अतीत प्रेम कुछ अधिक ही है। हम इस बात को व्यावहारिक रूप से नहीं समझ पा रहे हैं कि शिक्षा भविष्योन्मुख होनी चाहिए, अतीतोन्मुख नहीं, तभी विकास हो सकता है। कोई भी सृजनात्मक प्रक्रिया भविष्योन्मुख ही हो सकती है। कठिनाई यह है कि हमारे सारे सिद्धांत, सारी धारणाएं, सारे आदर्श अतीत से ही लिए हुए हैं। हम यह भी जानते हैं कि अतीत में सब कुछ सही नहीं था। कई गलत परंपराओं से हमारा अतीत भरा पड़ा है, जिसे आज हम लागू नहीं कर सकते हैं। अक्सर तो यही हुआ है कि शिक्षकों ने, धर्म-गुरुओं ने अतीत का ही गुणगान किया है, और जो अतीत था उसको ही श्रेष्ठ सिद्ध किए चले गए। अगर उन्होंने वर्तमान की निंदा भी की तो भविष्य की प्रशंसा के लिए नहीं बल्कि अतीत की प्रशंसा के लिए। हमारी शैक्षिक सोच में इस भाव का प्रधान्य रहा है कि अतीत जैसा नहीं हो रहा है, इसलिए सब गड़बड़ हो रहा है। अतीत को हम वापस ले आएँ तो सब ठीक हो जाएगा। अतीत

के प्रति हमारी दृष्टि आलोचनात्मक नहीं रही। इसलिए आज हम शिक्षा में अतीत और वर्तमान के बीच सामंजस्य नहीं बैठा पा रहे हैं। इसी अतीत मोह ने भारत में वैज्ञानिक दृष्टि को सही-सही पनपने नहीं दिया।

हमारी आधुनिक शिक्षा के साथ सबसे बड़ी विडंबना यह हुई कि इसने परंपरा और आधुनिकता के बीच सार्थक सामंजस्य स्थापित नहीं किया। दरअसल आधुनिकता शून्य से नहीं टपकती, यह परंपरा के गर्भ से ही विकसित होती है। वह परंपरा का स्थानापन्न नहीं बल्कि रूपांतरण होती है। आधुनिकता आधुनिकीकृत परंपरा है। अगर आधुनिकता समूची परंपरा का त्याग कर दे तो आधुनिक भी न रह जाएगी। वह जड़हीन और शक्तिहीन हो जाएगी। ठीक उसी तरह अपने को आधुनिक बनाते हुए परंपरा अप्रासंगिक तत्वों को त्याग नहीं देती तो वह परंपरा भी नहीं रहती, वह सड़ांध और पतन का एक अनुर्वर और ठहरा हुआ तालाब बन जाती है।

ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत की परंपरा में निहित साकारात्मक मूल्यों को पनपने नहीं दिया। और परंपरा के पिछले और पतनशील तत्वों को अपनी स्वाभाविक मौत मरने नहीं दिया गया ताकि उनकी जगह नई जमीन को उर्वर किया जाता और नए अंकुर फूटते। शिक्षाशास्त्री मूनीस रज़ा ने लिखा है, "साम्राज्यवादी शक्तियों ने जातिवाद, सांप्रदायिकता और संकीर्णता जैसे नासुरों को बनाए रखा ताकि राष्ट्रीय उत्थान का माहौल प्रदूषित हो और इन देशों की व्यवस्था में विचारधारात्मक दुर्बला भरी जा सके। परंपरा के पतनशील तत्वों की इस धिनौनी सतह पर समुद्र पार



से आयातित आधुनिकता की एक तह चढ़ा दी गई। ये संरचनात्मक खामियां शिक्षा के अल्पविकास के असंवेदनशील क्षेत्र में सबसे तीखे ढंग से व्यक्त हो रही थी। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश पाठशालाएं, गुरुकुल और मदरसे तो भूकेंद्रित सौर-मंडल का सिद्धांत (यानी सूरज पृथ्वी के चारों ओर घूमता है) बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक पढ़ाते रहे और मैकाले की शिक्षा-व्यवस्था चाटुकार स्नातक पैदा करती रही। परंपरा तो मर रही थी किंतु आधुनिकता जन्म लेने में असमर्थ थी। यह बात सच है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए चलने वाले साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष ने शिक्षा के वैकल्पिक मॉडलों की खोज के लिए प्रेरित किया। लेकिन संभवतः रवींद्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू के बौद्धिक योगदान को छोड़ दें तो परंपरा और आधुनिकता की दरार नहीं पाटी जा सकती। (शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम-मूनिस रजा, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ-198-199)

शिक्षाविद् मूनिस रजा ने आधुनिक शिक्षा को पारंपरिक शिक्षा के गतिशील तत्वों से जोड़ने की जो बात कही है, वह काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि परंपरा में सब-कुछ हेय ही नहीं होता है। वहां कई ऐसे मूल्यवान धरोहर हैं जिसे काट-छांट और तराशकर वर्तमान ही नहीं बल्कि भविष्य के लिए भी सहेजकर रखा जा

सकता है। अतीत की पारंपरिक शिक्षा का ही हम उदाहरण लें। उस पारंपरिक शिक्षा में कितनी ही बुराई क्यों न हो लेकिन एक चीज जो सबसे महत्वपूर्ण थी, वह थी बहस। शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद शिक्षाधी को विभिन्न मेधाओं से शास्त्रार्थ करना होता था। वह शास्त्रार्थ पूरी तरह तर्क और प्रमाण पर आधारित होता था। पारंपरिक शिक्षा का सबसे जीवंत (वाइब्रेंट) पक्ष कदाचित यही था। इसी वाद-प्रतिवाद के फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। ध्वनि सिद्धांत से लेकर शून्य की खोज और वात्सायन के कामशास्त्र से लेकर चाणक्य के अर्थशास्त्र तक की खोज में इन बहसों का महत्व काफी है। आधुनिक शिक्षा पद्धति को इसी तरह परंपरा और आधुनिकता से जोड़कर उसे एक सार्थक सांस्कृतिक संदर्भ और आधार प्रदान किया जा सकता है। वैसे इस तथ्य से इंकार दृष्टि किया जा सकता है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा को विचित्र तरह के संक्रमण से गुजरना पड़ा है। एक तरफ ब्रिटिश शिक्षा पद्धति की चमक-दमक और दूसरी तरफ गुरुकुल परंपरा की सादगी। दोनों पद्धतियों के बीच सकारात्मक संतुलन न बैठ पाए की वजह से विचित्र तरह का घालमेल पैदा हो गया। और इस घालमेल ने आधुनिक शिक्षा को शब्द के सही अर्थों में आधुनिक नहीं बनने दिया।